1937G Ill-timed Contemplation

Akaal Swadhyay (In Jain Darshan 1937)

अकाल स्वाध्याय

असज्झाए सज्झाय पर विशेष विचार।

ले०—हीरालाल जैन उज्जैन

नत्थि नएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि।
तो नयवादे निउणो, नएण नयविसारओ बूया॥"

आर्हत—प्रवचन की जो सब से बढ़ी चढ़ी खूबी है वह यही कि इसमें प्रत्येक वस्तु का विचार नाना दृष्टियों से भिन्न भिन्न पहलुओं से किया गया है और यथार्थ में होना भी ऐसा ही चाहिये। क्योंकि जब प्रत्येक वस्तु ही अनन्त धर्मात्मक है, तो उसका पूर्ण ज्ञान अथवा यथार्थ निर्णय किसी एक धर्म द्वारा कैसे किया जा सकता है? इसी लिये महर्षियों ने आज्ञा दी है कि नय विशारद लोग, नय रूप नाना दृष्टियों से ही किसी भी वस्तु का निरूपण करें, क्योंकि जैन मत में कोई भी कथन, नय-विहीन नहीं है। इस रहस्य को हमारे प्रातः स्मरणीय आचार्यों ने समझा था। यही कारण है कि समन्तभद्र जैसे महापुरुषों ने आप्तकी मीमांसा करते हुए भी, उनके निरूपित तत्व की; जैसे भेदवाद अभेदवाद, एकवाद-अनेकवाद, सत्तावाद-असत्तावाद आदि की; नाना दृष्टियों से परीक्षा की और परीक्षा में भगवान को सोलह आना सफल देख कर भक्ति से गद्गद हो गाने लगे—

"त्वया गीतं तत्वं, बहुनयविवक्षेतरवशात्"

\+ \+ \+ \+

गत अंक में 'असज्झाये-सज्झाय'* शीर्षक एक विस्तृत एवं आगम-प्रमाणों से ओत-प्रोत लेख प्रकट हुआ है। विद्वान लेखक ने इस अनूठे विषय की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर विवाद में पड़े हुए तत्व की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। लेख प्रकट होने के कुछ पूर्व जब लेखक मेरे यहाँ कुछ क्षणों के लिये आये थे, उस समय उक्त प्रकरण को छेड़ कर उस पर मेरा अभिप्राय मांगा था—मैं ने भी वचन दे दिया था कि आपका लेख प्रकट होने पर मैं अपनी सम्मति दे दूंगा। उसके कुछ दिन बाद ही मुझे देश जाने का मौका मिला और वहां पर भी दो-एक विचारशील-अनुभवी विद्वानों ने इसी प्रकरण को छेड़ कर मेरा मत मांगा। खास कर उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अकाल में स्वाध्याय क्यों नहीं करना चाहिये? उनका कहना था कि ध्यान के समय सामायिक के काल में तो स्वाध्याय का निषेध उचित है, पर अन्य कारणों का तो कुछ रहस्य हमें समझ नहीं पड़ता, आदि। मुझे इस विषय पर विचार करने की यह दूसरी प्रेरणा मिली। इधर सम्पादक जी का भी उलाहना आया कि गत मासमें दर्शन के लिये आपने मैटर नहीं भेजा सो कारण लिखें, तथा इस मास के लिये सुन्दर लेख अवश्य भेजें? मैं ने उचित समझा कि जो सामग्री मस्तिष्क में प्रस्तुत है, लोगों को रुचिकर, संभवतः आकाँक्षणीय और प्रकरण संगत है, उस पर ही क्यों न लेख लिखूं?

\+ \+ \+ \+

अकाल क्या है, काल क्या है? स्वाध्याय और

* 'असज्झाये' पद अशुद्ध है, क्योंकि प्राकृत में 'य' के स्थान पर 'य' ही होता है। लेखक।

अस्वाध्याय क्या वस्तुयें है ? इन बातों का स्पष्ट विवेचन तो लेखक ने अपने लेख में सप्रमाण कर ही दिया है अतः उस पर मुझे कुछ भी कहना नहीं है। मुझे केवल इस बात पर अपना अभिप्राय प्रकट करना है कि क्या अकाल में भी स्वाध्याय किया जा सकता है ? क्या उसके लिये साधु और श्रावक को एक सी आज्ञा है ? और यदि अकाल में स्वाध्याय नहीं करना चाहिये तो क्यों नहीं ? मैं इन्हीं तीनों प्रश्नों का उत्तर अपने लेख में दूंगा और यही मेरे लेख का उद्देश्य है।

\+ + + +

मैं सर्व प्रथम तीसरे प्रश्न का समाधान करता हूँ, क्योंकि उससे प्रथम के दोनों प्रश्नों का उत्तर स्वयं ही हो जाता है।

स्वाध्याय के जितने अकाल बतलाये हैं उन सभी को एक दृष्टि से 'अकाल' मानना उचित प्रतीत नहीं होता। हां, बहुतों का एक कारण हो सकता है, यह दूसरी बात है।

मूलाचार के अनुसार—दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्र धनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, बिजली तड़कन, मेघ गर्जन, बर्फ-पतन, इन्द्रधनुष-उदय, सन्ध्या, दुर्गन्ध दुर्दिन, कलह आदि उपद्रव, युद्ध, कोहरा, भूकम्प इत्यादि को स्वाध्याय के लिये अकाल माना गया है।

इन अकालों में से 'सन्ध्या' को अकाल मानने का अर्थ किया जाता है कि वह काल सामायिक या ध्यान का है उस वक्त स्वाध्याय करने से ध्यान का समय भंग होता है, आदि। पर यह समाधान उचित प्रतीत नहीं होता, कारण कि,—न तो इसको पुष्टि आगम से ही होती है और न युक्ति से ही। युक्ति से तो इस लिये नहीं, कि स्वाध्याय भी अंतरंग तप है और ध्यान भी 'स्वस्य आत्मनः अध्ययनं स्वाध्यायः' ऐसा अर्थ करने पर तो स्वाध्याय और ध्यान का आशय भी एक ही हो जाता है। थोड़ी देर के लिये उक्त अर्थ को न भी मानें, तो भी सामायिक का महत्व स्वाध्याय से भिन्न नहीं है, परस्पर दोनों कार्य—कारण का ही सम्बन्ध रखते हैं। इसके सिवाय आगम में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिन से भी उक्त बात सिद्ध नहीं होती है। जैसे—वही समय भगवान् की दिव्यध्वनि होने का है और वही सामायिक का काल है और वही संध्या या प्रदोष काल होने से अनध्याय का समय है। इस बात से स्पष्ट पता चलता है कि यदि तीनों संध्यायें यथार्थ में स्वाध्याय के लिये 'अकाल' होतीं तो, न तो भगवान् के ही ऐसे समय में दिव्यध्वनि प्रकट होती, न भव्य जीव ही उसे अपना ध्यान का समय छोड़ कर सुनने पहुंचते। क्योंकि अकाल में स्वाध्याय शास्त्र पठन-पाठन के करने से तो प्रायश्चित्त बताया गया है फिर स्वयं भगवान की ओर से ही ऐसी प्रायश्चित्त की अवस्था पैदा की जाय—यह कुछ बात समझ में नहीं आता। इसी बात की पुष्टि उन कथाओं से भी होती है जिनमें यह बताया गया है कि सुकुमाल या जम्बूकुमार आदि महापुरुषों को रात्रि के अन्तिम भाग में अमुक साधु के अमुक सूत्र पाठ को सुनने से वैराग्य हो गया आदि। इससे मालूम होता है कि सन्ध्या का जो अर्थ लोग लेते हैं यथार्थ में वह नहीं है उसका कुछ दूसरा ही अर्थ है। मूलाचार की उसी २३० पृष्ठ वाली गाथा की टीका में ही

'संध्या' का अर्थ इस प्रकार किया गया है "सन्ध्या लोहितपीतवर्णाकारः"। अर्थात् जिस समय लाल पीले रंग का आकाश दिखाई देवे, उसे संध्या कहते हैं। यह ठीक है कि प्रातः और सायंकाल वैसा रंग दिखाई पड़ता है पर उसका ग्रहण यथार्थ में यहां नहीं किया गया है।

थोड़ी देर के लिये यदि यही मान लिया जाय कि आचार्य का अभिप्राय 'सन्धया' से प्रातः सायंकाल का ही है, तो भी उस समय सर्वथा स्वाध्याय करने की मनाई भी नहीं है। स्वयं मूलाचार में बतलाया गया है कि—गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवलि और अभिन्नदशपूर्वी-कथित सूत्रों को छोड़ कर अन्य शास्त्रों का 'अकाल' में स्वाध्याय किया जा सकता है।

शंका—गणधरादि कथित सूत्रों के स्वाध्याय की ही सही, परन्तु अकाल में उनके स्वाध्याय का तो निषेध ही रहा। फिर आपका कहना कैसे ठीक माना जाय? दूसरे यह भी बतलाइये—कि आराधना पंचसंग्रह आदि शास्त्रों के स्वाध्याय का तो निषेध क्यों नहीं बताया और गणधर-कथित सूत्रों के स्वाध्याय का निषेध क्यों किया?

समा०—आपकी उक्त शंका का समाधान उसी बात को गम्भीर दृष्टि से देखने पर हो जाता है। गणधरादि कथित सूत्रों के चारों ही संध्याओं में नहीं पढ़ने के कई कारण हैं। जिनमें से प्रधान कारण तो यह प्रतीत होता है कि—"उस समय श्रावक या साधु को शान्ति के साथ बैठ कर यह भावना या ध्यान करना चाहिये—कि वे पुरुष धन्य हैं, जो इस समय महाविदेहवर्त्ती तीर्थङ्करों के समवशरण में बैठ कर उनकी द्वादशाङ्ग-गर्भित-दिव्यध्वनि रूप परमामृत का पान कर रहे हैं। हमें भी वह अवसर कब प्राप्त होगा जब हम भी साक्षात् तीर्थङ्कर ध्वनि को इसी प्रकार सुन कर वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ सकेंगे, आदि।" मेरे इस कथन को कितने ही पाठक तुरन्त ही, कपोल-कल्पित कह उठेंगे! पर मैं उनसे नम्रनिवेदन करूंगा कि भाई, मेरे उक्त कथन की पुष्टि, ऐसे ही अन्य शास्त्र निरूपित प्रकरणों से होती है। जैसे श्रावकाचारों में बताया गया है कि श्रावक को चाहिये कि यदि आहार दान देने के समय साधु का लाभ न हो तो ऐसा विचार करे कि वे लोग धन्य हैं, जो इस ढाई द्वीप में इस समय साधुओं को आहार दान दे रहे हैं, मैं भी भावना करता हूं कि मुझे भी वह अवसर प्राप्त हो आदि। जब आहार दान के लिये उक्त भावना स्पष्ट शब्दों द्वारा शास्त्रों में कही हुई मिलती है तो वही या वैसी ही भावना की यहां भी कल्पना करना किसी भी हालत में असंगत नहीं कहा जा सकता।

शंका—आपके इस समाधान से तो एक और भी नई शंका पैदा होती है कि जैसे आहार दान के समय उक्त भावना भाने वाले श्रावक को यदि दैववशात् उसी समय—किसी साधु का लाभ हो जाय—तो वह उसे आहारदान कर सकता है। क्या इसी प्रकार यदि किसी साधु या श्रावक के सामने गणधरादि-कथित-द्वादशांग-सूत्र आजायें—तो वह सन्ध्या या ध्यान के काल में उन्हें पढ़ सकता है?—स्वाध्याय कर सकता है?

समा०—आपकी शंका ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो द्वादशांग लिपि बद्ध ही नहीं किया जा सकता

जिससे कि उनका शास्त्राकार रूप सामने आ जाय और हम खोल कर उनका स्वाध्याय करने लग जायें दूसरे आपके कथन की दृष्टांत के साथ समानता भी नहीं बनती है—क्योंकि दृष्टांतमें यह कहा गया है कि 'साधु के अभाव में उक्त भावना भावे और यदि दैववशात साधु का लाभ हो जाय, तो उसे आहार दान दे देवे'। उसी प्रकार यहां ऐसा घटाना चाहिये कि यदि उस समय दिव्य ध्वनि का सुनना न मिल रहा हो, तो उक्त भावना भावे। और यदि दैव-वशात् तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि सुनने का सुअवसर प्राप्त हो जाय, तो उसे सुनने का लाभ उठाना चाहिये।

दूसरे—जैसे श्रावक के लिये आज्ञा दी गई है कि उत्तम पात्र के अभाव में—मध्यम पात्र को, और उसके भी अभाव में जघन्य पात्र को आहार दान करके स्वयं भोजन करे। ऐसे ही यहां पर भी समझना चाहिये कि यदि उस समय-तीर्थङ्करों की दिव्य ध्वनि सुनने का लाभ न मिले तो आरातीय आचार्यों के वचन रूप शास्त्रों के पढ़ने सुनने का ही लाभ उठावे। यही कारण है कि अकाल में आराधना, पंचसंग्रह आदि के स्वाध्याय का निषेध नहीं किया गया है।

इतना स्पष्ट विवेचन करने पर भी जो लोग अपना हठ न छोड़ें और यही कहते रहें कि यह सन्ध्यायें तो ध्यान के लिये ही हैं भगवान की दिव्य-ध्वनि तो उस समय को छोड़ कर खिरती है-आदि‡ उन से मैं पूछना चाहता हूँ कि आखिर यह 'ध्यान' क्या बला है? इस ध्यान के दो ही अर्थ हो सकते हैं—धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान। यदि धर्मध्यान को 'ध्यान' शब्द से ग्रहण करें तो भगवान की आज्ञा संसार में कैसे फैले? (आज्ञा विचय), सब प्राणी दुःख से कैसे छूटें? (अपाय विचय) देखो जीव कर्मोंके कैसे २ फलों को प्राप्त होते हैं? (विपाक विचय) लोक संस्थान कहां कैसा क्या है? (संस्थान विचय) इत्यादि रूप ही चिन्तवन (ध्यान) किया जायगा जो कि स्वयं ही द्वादशाङ्ग श्रुत ज्ञान के विषय भूत तत्वों के चिन्तवन रूप है, और ऐसी २ विचार धाराओं को ही तो 'अनुप्रेक्षा' नाम का स्वाध्याय माना गया है। केवल शास्त्र खोल कर अक्षर बांचने का नाम ही तो स्वाध्याय नहीं है।

यदि 'ध्यान' शब्द से शुक्ल ध्यान को ग्रहण करें तो अन्तम दो शुक्ल ध्यान तो केवलियों के होते हैं जहाँ ध्यान, ध्याता-ध्येय वा अकाल में स्वाध्याय आदि की कल्पना ही नहीं रह जाती है। और आदि के के दो शुद्ध ध्यान—आठवें गुणस्थान से ले कर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं, सो उनमें भी श्रुत-वचनों का ही मनन-चिन्तन हुआ करता है। क्योंकि आदि के दोनों ही शुक्ल ध्यानों के वितर्क और वीचार प्राण हैं और उनके लक्षणों में कहा गया है कि—

विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः यदि श्रुतज्ञाने वितर्कशब्दो वर्तते तर्हि पुनरपि पृष्टव्यः, अथ वीचारः किंलक्षण इत्यत्रोच्यते— × × एकं श्रुतवचनमुपादाय वचनान्तरमालम्बते, तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। (राजवार्तिक)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे

‡ उक्त अभिप्रायका एक लेख 'जैनबोधक' में अभी देखने को मिला है। —लेखक

धर्मध्यान हो; चाहे शुक्ल ध्यान हो, दोनोंमें ही श्रुत-ज्ञान के विषय भूत पदार्थों का चिन्तवन-मनन होता है और इसी को लक्ष्य करके कहा गया है कि "भेदः साक्षादसाक्षाच्च श्रुतकेवलगोर्मतः" । इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही ध्यानों की दृष्टि से द्वादशाङ्ग के विषयभूत पदार्थों का ही चिन्तवन किया जाता है। वह पदार्थ यदि 'पर' है तो उसे 'व्यवहार या द्रव्य स्वाध्याय' समझना चाहिये और यदि 'स्व' है तो उसे 'निश्चय या भाव स्वाध्याय' समझना चाहिये। पर—पदार्थों के स्वरूप का अभ्यास करना, चिन्तवन करना व्यवहार या द्रव्य स्वाध्याय है और 'स्व' का—अपने आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करना, मनन करना—निश्चय या भाव स्वाध्याय है। इस व्याख्या के अनुसार दोनों ही प्रकार के ध्यान-स्वाध्याय की व्याख्या से बाहर नहीं रह जाते । और यह तो कहीं बतलाया ही नहीं गया कि 'स्वाध्याय' नाम का तप छठे गुण-स्थान तक ही होता है और आगे के गुणस्थानों में नहीं होता । इससे भी काल व अकाल के स्वा-ध्याय का प्रश्न हल हो जाता है ।

उक्त विवेचन के फलितार्थ की स्याद्वाद की अपेक्षा इस प्रकार व्यवस्था जानना चाहिये कि गण-धर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वियों से कथित शास्त्र (सूत्र) सन्ध्या काल में नहीं पढ़ सकते हैं। आरातीय आचार्य निरूपित आराधना पंच संग्रह आदि शास्त्र संध्या काल में पढ़ सकते हैं। (यहां संध्या काल से प्रातः, सायं काल का ग्रहण किया गया है मध्याह्न का नहीं। क्योंकि मूलाचार टीका में सन्ध्या का लक्षण लाल पीले रंगके बादलों का होना माना गया है, जो कि प्रातः, सायं काल में ही होते हैं मध्यान्ह में नहीं। यदि होते भी हैं तो कदाचित ही, सदा नहीं)

अथवा उसी 'स्याद्वाद दृष्टि' से इस प्रकार भी व्यवस्था कर सकते हैं कि सर्व आरम्भ परिग्रह विरत साधु, दोनों सन्ध्याओंमें द्रव्य स्वाध्याय (शास्त्र खोल कर पढ़ना) नहीं कर सकता है, क्योंकि वह दीपक आदि के प्रकाश बिना संभव नहीं। और प्रकाश के आने पर सावद्य योग के सिवाय महारंभ एवं त्रस-स्थावर घात स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है, जो कि साधुओं के लिये सर्वथा अनिष्ट है। किन्तु सभी प्रकार के आरंभ परिग्रह में पड़े हुए, निरन्तर आर्त, रौद्र ध्यान वाले श्रावक द्रव्य स्वाध्याय को, सन्ध्या काल में भी कर सकते हैं। क्योंकि उस काल में वे लोग गार्हस्थिक काम करते हुए देखे जाते हैं। हां, जो श्रावक आरम्भ परिग्रह विरत हो चुके हैं उनके लिये साधुओं वाला ही नियम लगाना चाहिये

अथवा—सन्ध्यादि अकालों में द्रव्य स्वाध्याय नहीं कर सकते, भाव स्वाध्याय कर सकते हैं। इत्यादि प्रकार से स्याद्वाद की सप्तभंगी द्वारा यथार्थ वस्तु का स्वरूप समझ लेना चाहिये । क्योंकि लेख के प्रारम्भ में ही कह दिया गया है कि जैन मत में तो किसी भी वस्तु का कथन नय विहीन नहीं है। भगवान् तीर्थङ्कर का कहा हुआ तत्व तो नाना-नयों की विवक्षा लिये हुए ही है, इस लिये उक्त प्रकार की व्यवस्था सर्वथा उचित, न्यायसंगत एवं आगम परिपुष्ट ही समझनी चाहिये मनगढ़न्त या कपोल कल्पित नहीं समझना चाहिये।

मेरे इस उक्त कथन की पुष्टि—श्वेताम्बर सूत्रों से भी होती है। देखिये—"णो कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए ।

तंजहा—पढमाए, पच्छिमाए, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते । कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा चउक्कालं सज्झायं करेत्तए । पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे" ।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४ उद्देश २ ।

इस प्रकार सन्ध्याकाल में स्वाध्याय अस्वाध्याय का निर्णय कर दिया गया । अब दिग्दाह, उल्कापतन आदि माने गये अकालों का विचार किया जाता है कि उन्हें अकाल क्यों माना ?

मूलाचार में दिग्दाह आदि जितने अकाल बतलाये हैं उनका यद्यपि वहां विभाग नहीं किया गया है, फिर भी हम उन्हें पांच विभागों में विभक्त कर सकते हैं । १-स्वाभाविक, २-आकस्मिक, ३-देवज, ४-व्युद्ग्रहज और ५-शारीरिक । वर्षा ऋतुमें वर्षा होना बादल होना, बिजली, चमकना, मेघ गरजना, दुर्दिन होना आदि प्राकृतिक अकाल हैं सो उनमें स्वाध्याय करने की मनाई नहीं है । किन्तु जब ये ही आकस्मिक होते हैं या देवज होते हैं, तो उस समय स्वाध्याय करने की मनाई की गई है । जो दुर्दिन, मेघ गर्जन आदि वर्षा ऋतु को छोड़ कर स्वभावतः शीत या ग्रीष्म ऋतुमें होते हैं उन्हें आकस्मिक कहते हैं । किन्तु वे ही अन्य ऋतु में या वर्षा ऋतु में भी देवों द्वारा या किसी मनुष्य के मन्त्र प्रयोग द्वारा किये जाते हैं तो उन्हें आकस्मिक या देवज कहते हैं उस समय स्वाध्याय की मनाई है । जैसा कि कहा है—

"शेषकाणि तु विकल्पितानि, कदाचित्स्वाभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि । तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिहियते, किन्तु देवकृतेषु परम् ।

व्यवहार सूत्र उद्देश ७ ।

शंका—मेघ गर्जन, दुर्दिन, आदि के स्वाभाविक होने पर तो स्वाध्याय करने की मनाई नहीं है और आकस्मिक या देवज्ञ होने पर मनाई की की गई है, इसका क्या कारण है ?

समा०—स्वाभाविक मेघ गर्जनादिक के होते समय किसी भी जीव को भय या क्षोभ नहीं उत्पन्न होता है । सभी जानते हैं कि यह तो इनके होने का मौसम ही है । बल्कि उनके होने पर लोग खुशी मनाते हैं कि समय पर बादल हो रहे हैं फसल अच्छी होगी आदि । किन्तु जब वे ही असमय में होते हैं या आकस्मिक होते हैं, तो लोगों में भय और क्षोभ मच जाता है कि यदि इस वक्त वर्षा होगई तो यह सारी तैयार खड़ी हुई फसल चौपट हो जायगी, आदि । और स्वाध्याय करने वाला चाहे साधु हो चाहे श्रावक, उसे तो लोकभय, जन-संक्षोभ आदि का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है । व्यवहार में देखा ही जाता है कि यदि अपने पड़ोस में किसी की मृत्यु हो जाती है तो लोग अपना २ काम छोड़ कर उसके दुःख में सम्मिलित होने पहुंचते हैं । चाहे वह समय स्वाध्याय, ध्यान या पूजन का ही क्यों न हो।

यहां शंका की जा सकती है कि श्रावक ऐसे अवसरों पर भले ही स्वाध्याय छोड़ दें या न करें, परन्तु साधुओं को इन बातों से क्या प्रयोजन । उन्हें तो स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिये ?

समा०—नहीं, लोक रुचि का साधुओं को भी पूरा ध्यान रखना पड़ता है । यदि वे लोक व्यवहार की उपेक्षा करते हैं तो संघ की निन्दा होने लगती है और कभी २ तो उस पर बड़े २ उपद्रव तक

भी आ जाते हैं। मेरी इस बात की पुष्टि भी आगम से होती है। देखिये—

"..... भूयसां च लोकानामप्रीतिः—वयमेवंभीता वर्तामहे, कामंवापरं प्राप्स्यामः; एते च श्रमणकाः निर्दुःखं पठन्ति। लोकाचार बाह्या एते। × × अथवा तथा पठन्ति यथा न कोऽपि शृणोतीति।

—व्यवहार सूत्र उद्देश ७

इस प्रमाण से मेरे उक्त कथन की तो पुष्टि होती ही है साथ ही एक बातका और भी उत्तम खुलासा होजाता है कि अकाल में जो स्वाध्यायका निषेध है वह द्रव्य स्वाध्याय की दृष्टि से ही है, न कि भाव स्वाध्याय की दृष्टि से। क्यों कि उक्त उद्धरण में स्पष्ट लिखा है कि—अथवा "इस प्रकार पढ़े कि जिस में कोई सुन न पावे।" अर्थात शास्त्र खोलकर पढ़ना, द्रव्य स्वाध्याय; मनमें पढ़ना, भाव स्वाध्याय है।

दो राजाओं में युद्ध होने, नगर में आग लग जाने या लगा देने, मार काट होने आदि के समय को 'व्युद्ग्रहज' 'अकाल' कहते हैं। ऐसे समय में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे प्रजा में क्षोभ पैदा हो सकता है—वह कह सकती है कि देखो—हम लोग तो संकट में पड़े हुए हैं और ये निर्दयी बने हमारे सुख दुखकी कुछ भी परवाह नहीं करके स्वाध्याय में मस्त हो रहे हैं आदि। यहां पर भी 'प्रमाण' उपयुक्त ही समझना चाहिये। अथवा करे भी तो अपाय – विचय रूप या विपाक विचयरूप धर्म ध्यान का चिन्तवन करे या शान्तिपाठ, दुःखभय भंजन आदि उन स्तोत्रों का पाठ करे जिनमें जन-साधारण के दुःख-मोचन की प्रार्थना या भावना प्रधान रूपसे पाई जाती है। वैसा स्वाध्याय जोरसे करने पर भी कोई दोष जनक या निन्दाकर्तृक नहीं है। क्योंकि लोगों में स्वतः यह भाव पैदा होगा— कि देखो अमुक व्यक्ति हमारे इस दुःखके समय हमें दुःखसे छुड़ाने के लिये कैसी प्रार्थना कर रहा है हमारा कितना हितू है आदि।

इस प्रकार करने पर वह अपने स्वाध्याय काल को भी साध लेता है और लोगों के यश का भाजन भी बन जाता है निन्दा या क्षोभसे बच जाता है। यथार्थ में सच्चा जैन तो वही है कि जिसकी किसी भी क्रिया से किसी भी प्राणी को बाधा न पहुँचे दिल तक न दुखे। वाहरे जैन शासन! तेरी महिमा अनुपम है, अपरम्पार है कि प्राणी मात्रके हितका इतना सूक्ष्म दृष्टि से ख्याल रखता है और विश्वके कल्याण में अपने कल्याण को प्रकट करता है।

हड्डी, खून, मांस आदि के देखने स्पर्श करने पर जो स्वाध्याय की मनाही की गई है उसे शारीरिक अकाल कहते हैं इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि द्रव्य शुद्धि की अपेक्षा उक्त अकाल कहा गया है और इसलिये उक्त अकाल में द्रव्य स्वाध्यायकी ही मनाही समझना चाहिये। भाव स्वाध्याय के तो होने में कोई बाधा है ही नहीं। बल्कि ऐसे समय भाव स्वाध्याय तो और भी अधिक भावों से सम्पन्न हो सकता है।

सूर्य चन्द्रग्रहण के अकाल मानने का कारण शारीरिक बाधा उत्पन्न होने से है। ऐसा प्रसिद्ध है कि ग्रहण आदि के समय स्वाध्याय करने से दृष्टि की मन्दता आदि दोष पैदा हो जाते हैं। वायु के दूषित हो जाने से लकवा आदि बीमारियां पैदा हो जाती हैं। सम्भवतः यही कारण कुन्दकुन्द स्वामीका

रहा जिससे कि उनकी ग्रीवा वक्र हो गई थी और वक्रग्रीव नाम से वे प्रसिद्ध हो गए। अतः ग्रहोपराग के समय स्वाध्याय नहीं करे।

बहुत से पाठक यह आक्षेप उठा सकते हैं कि जितने भी प्रमाण आपने दिये है, वे तो श्वेताम्बर आगमों के हैं, हम तो उन्हें प्रमाण नहीं मानते, आदि। उनसे मेरा निवेदन है कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को अपना यह सिद्धान्त रखना चाहिये कि "युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।" फिर उन्हों ने कोई नये अकाल तो गढ़ नहीं दिये हैं, किन्तु 'अकालों' को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है, जो कि बड़ी ही सुन्दर युक्ति से है। फिर भी यह कल्पना केवल श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही पाई जाती हो ऐसी बात नहीं है। दिगम्बरों के परम मान्य इसी मूलाचार की टीका में उसी 'अकाल' के प्रकरण में इसी बात को सूत्र रूप से प्रकट किया है।

तद्यथा—इत्येवमाद्यन्येऽपि बहवः स्वाध्यायकाले वर्जिताः परिहरणीया दोषाः सर्वलोकानामुपद्रवहेतुत्वात्। एते कालशुद्धयां क्रियमाणायां दोषाः पठनोपाध्यायसंघराष्ट्रराजादिविप्रकारिणो यत्नेन त्याज्याः।

—मूलाचार पृ० २३१

अर्थ—इत्यादिक अन्य भी बहुत से दोष स्वाध्याय कालमें वर्जित हैं, अतः उन्हें छोड़ देना चाहिये। क्योंकि वे सर्वलोक के उपद्रव के कारण हो सकते हैं अर्थात काल शुद्धि में किये गये वे दोष, पठन, पाठन, उपाध्याय, संघ, राष्ट्र और राजादि के विप्लव को करने वाले हैं उन्हें प्रयत्न से छोड़ना चाहिये।

मैं समझता हूं, अपनी प्रतिज्ञानुसार—लेख के प्रारम्भ में उठाई गई तीनों शंकाओं का भली भांति समाधान कर दिया गया है। फिर भी यदि किसी पाठक को कुछ सन्देह या भ्रम प्रतीत हो, तो पत्र द्वारा या 'दर्शन' में लेख भेज कर स्पष्ट कर सकते हैं मैं उनका यथाशक्ति समाधान करने का प्रयत्न करूंगा।

मैं उन विद्वानों का भी आभारी होऊंगा जो इस विषय में अपने अपने अभिप्राय बिना किसी आक्षेप के भेजने की कृपा करेंगे। मैं चाहता हूं कि 'दर्शन' में जिस विषय के 'दर्शन' हों—मीमांसा होने के बाद उस विषय के 'यथार्थ-दर्शन' सर्वसाधारण को हो जाय ऐसा प्रयत्न अनवरत प्रारम्भ रहे।

सं०—अभिमत—विद्वान लेखक ने 'अकाल स्वाध्याय' का युक्तिपुरस्सर खुलासा करने का अच्छा प्रयत्न किया है जिसमें कि लेखक को बहुत कुछ सफलता भी मिली है। 'सन्ध्या' समय को अकाल सिद्ध करने में जो युक्तियाँ लेखकने दी हैं वे जबर्दस्त नहीं हैं। ध्यान में श्रुत का अवलम्बन अवश्य होता है किन्तु स्वाध्याय और ध्यान में बहुत अन्तर है। ध्यान में आत्मशुद्धि को मुख्यता है जब कि स्वाध्याय में ज्ञान वृद्धि की मुख्यता है। तथा—आत्मशुद्धि की दृष्टि से ध्यान का दर्जा स्वाध्याय से उच्च है। अतः स्वाध्याय की अपेक्षा ध्यान अधिक महत्वशाली है। फिर ध्यान का समय 'सन्ध्या' स्वाध्याय के लिये अकाल क्यों न माना जाय।

दिव्य ध्वनि सन्ध्या समय स्वयं खिरती है उसमें तीर्थंकर कोई प्रयत्न नहीं करते हैं। दिव्यध्वनि का ग्रहण सामायिक की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। अतः वह एक अपवाद रूप है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के 'वक्रग्रीव' नाम के विषयमें आपको भ्रम हुआ है। वक्रग्रीव नामक एक अन्य आचार्य हुए हैं। दर्शन का सातवां अंक देखें।